Chap-6

षष्ठ अध्याय

औदार्यवादी अभिगम

मानवीय संवेदनाएँ :

काव्य की सभी विधाओं में अन्तरिक चेतना हर स्थिति में आवश्यक है, क्योंकि इसी में संवेदना का मूल स्त्रोत निहित है । संवेदना में ही मूल्यबोध या नैतिकबोध का भी अन्तर्भाव होता है । मूल्यबोध किसी न किसी संस्कृति से अवश्य जुड़े रहते हैं और संस्कृति निराधार नहीं होती । किसी न किसी जीवन या जीवन-दर्शन से सम्बन्धित दृष्टिकोण उस संस्कृति का आधारवलम्ब होता है । इस अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि संवेदना में जीवन-दृष्टि, जल में घुले शर्करा की तरह विद्यमान है । संसार की सत्ता प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है । परिवर्तनों का प्रभाव सब पर पड़ता है । संस्कृति और जीवन - दृष्टि से स्वरूप में भी परिवर्तनों के निशान दिखाई पड़ते हैं । जीवन-मूल्यों में परिवर्तन घटित होता है । परिणामतः संवेदनाओं के रूख भी बदलते हैं । यही से आरम्भ होती है, आकलन की अभिनव प्रक्रिया । कविता ही नहीं, समूचे साहित्य-जगत के मूल्यांकन में संवेदना और जीवन-दृष्टि को ही सर्वाधिक महत्व दिया जाता है ।

जब तक हृदय में भावों और संवेदनाओं का संघनन नहीं होता, किसी रचना का न तो जन्म ही सम्भव है, और न उसकी आशा ही की जा सकती है । रचना अपने मूल चरित्र में तो प्रकृति का दूसरा नाम या रूप ही कहा जायेगा । भावनाओं और संवेदनाओं का उद्रेक प्रायः रचना का उद्‌गम माना जाता है ।

नवगीत की जमीन मूल रूप से मानवीय संवेदनाओं की औदार्यवादी बुनियाद पर टिकी हुई है, जहाँ व्यक्ति अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को सामाजिक सरोकारों से सम्पृक्त बनाकर समष्टि अर्थात् समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है । वैसे तो यह आधार छायावादी प्रवृत्ति में भी देखी जा सकती है किन्तु

छायावाद में संवेदनाओं का परिवेश नितान्त वैयक्तिक था। हिन्दी-नवगीत, चूँकि, जन-साधारण की सामाजिक एवम् सांस्कृतिक चेतना से जुड़ी हुई है, अर्थात् ग्राम्यांचलिक परिवेश की समष्टिगत सांस्कृतिक निर्धारणों से संलग्न है, इस कारण यह छायावादी अवधारणाओं से नितान्त पृथक हो जाता है।

नवगीत में अधिकांश कथ्य, जो संवेदनात्मक धरातल पर आरूढ़ हैं, उनमें मानवीय सहज अनुभूति को उभारा गया है, इसलिए 'नवगीत' आम आदमी की सोच से सम्पृक्त है। 'व्यक्ति', जो समाज, संस्कार और संस्कृति से घिरा हुआ है, जो राजनीति व धर्म से घिरा हुआ है, जो संस्कारों और गृहस्थी की दैनन्दिनी से ग्रस्त है, वह इन नवगीतों में आकर प्रत्यक्ष होता है और एक प्रत्यक्ष संवाद स्थापित करता है। इस सन्दर्भ में व्यक्ति के आमोद-प्रमोद, हर्षोल्लास, आनन्द व खुशियों के सुखवादी अभिगमों को नवगीतों में स्पर्श तो किया ही गया है, साथ-ही-साथ उसकी त्रासद या सन्त्रस्त ज़िन्दगी के पीड़ादायी क्षणों को भी उजागर किया गया है, जिसमें दमन, त्रासदी, अभाव, पीड़ा, शोषण, गरीबी, असम्मान एवम् अवहेलना और इन सब से उद्भूत उसका आत्म-आक्रोश भी अलग-अलग ढंग से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में व्यक्त हुआ है। यहाँ वह बात विशेष ध्यातव्य है कि, संवेद्य क्षणों की अनुभूतियाँ संस्कृति के उदात्त पक्षों को स्थापित करती हैं तो दूसरी ओर संत्रस्त मन की व्यथापूर्ण संवेदनाएं उसके वैयक्तिक आत्मसंघर्ष को निहायत एकाकीपन के साथ व्यक्त करती रही हैं -

"फिर फूले कचनार,
प्रिया, तुम बिन फूले कचनार !
द्वारे फूला है कदम्ब
पिछवारे फूला आम
आंगन फूला गुलाबांस
अन्तर्मन तेरा नाम
डाल-डाल औ पात-पात
गिन-गिन फूले कचनार !"[१]

इसी प्रकार नवगीतकार कुमार शिव के एक नवगीतकी निम्न पंक्तियाँ देखें जो उपर्युक्त कथ्यों से पुष्टि करती हैं :-

"बहिना की शादी में
रेहन रख दिया था जो
कर्ज में डूबा आकण्ठ वह मकान
मांडने कढ़ा हुआ ।
अम्मा के भजनों को
टेरता रहेगा अब
कमरा पूजा वाला ।
और मकड़ियों के
जालों से पुर जायेगा

ठाकुर जी का आला ।
दुहरायेगा मेरा तुतलाया बचपन
तुलसी वाला अंगना
माटी में जिसकी मैं
खेलकर बड़ा हुआ ।''[२]

नवगीत में वैयक्तिक पीड़ाओं को जहाँ संवेदना के स्तर पर व्यक्त किया गया है, वहाँ प्रतीकों का साहचर्य भी उसी स्तर पर एक निश्चित वातावरण की सृष्टि करता है । यथा -

''क्या हमें जो दर्द हरकारा बने,
झिलझिलाती धप में पारा बने ।
हम पिघलने के सिवा क्या जानते ?
झील चांदी की बने, धारा बने ।
भिश्तियों की पीठ से
बंटते रहे ।''[३]

या फिर -

''थरथराते हैं नदी के पांव
पर्वत कांपते हैं
पीठ पर कोड़े उगाये
डाकिये खत बांटते हैं ।
एक जहरीली हवा की सांस ने
जब से छुआ है
हो गई धरती धुआं घर
हर शहर जंगल हुआ है
आदतन बौने सिपाही
हर सुबह को डांटते हैं ।''[४]

कुमार रवीन्द्र ने इस व्यथा-कथा को एक अलग ही अन्दाज दिया है -

''दिनभर की गाथायें
सुनकर
हम दुःख की झील हो गये ।
दृष्टि-दृष्टि पथरायी,
सन्नाटे -
माथे पर गड़ी हुई कील हो गये ।
उम्र की कथाओं में
कितने अध्याय हैं

व्यथाओं के ।
यादों में हैं कई-कई सलीब
मूर्च्छित संध्याओं के ।
अर्थहीन सुख के
समझौतों से
सपने अश्लील हो गये ।''[५]

नवगीतकार संवेदना के स्तर पर मानवीय विकारों को काव्यांकित करता है तो परिणामतः वह दमित व शोषित वर्ग का पक्षधर बनकर ही अधिक मुखर होता है । यही कारण है कि आत्मीय संवेदनाओं के आकलन के सन्दर्भ में कवि बार-बार उस दमित, दलित, शोषित वर्ग का लेखा-जोखा सामने रखता है जो समाज की रूढ़ और जंग खाई व्यवस्था के तहत बार-बार चरमरा कर टूट जाने को उद्यत रहता है और यही कारण है कि नवगीतकार इस व्यथाजीवी वर्ग की सन्त्रस्त और टूटी-उजड़ी हुई ज़िन्दगी का अवलोकन करता हुआ अत्यधिक अन्तस्थ हो जाता है और उनका यहीं 'अन्तस्थ होना' मानवीय संवेदनाओं के धरातल पर एक सर्वस्वीकार्य सहानुभूति को जन्म देता है । डॉ. शम्भुनाथ सिंह के शब्दों में -

''ये डरी-डरी हवाएं
ये बुझी-बुझी बहारें
न हँसी की खनखनाहट
न तो रस भरी फुहारें,
रुकी धड़कनें सभी की
सभी हो गये हैं पत्थर
कहीं थरथरी नहीं है
कोई सनसनी नहीं है ।''[६]

नवगीत का चरित्र नायक एक आदमी है, जो थका, हारा, टूटा हुआ, रोजी-रोटी के लिए संघर्ष करता हुआ, राजनीति से टक्कर लेता हुआ, समाज के ठेकेदारों से जूझता हुआ, गांव के ठेकेदारों, चौधरियों तथा जमींदारों से मोर्चा लेता हुआ, और जगह-जगह अपने क्लीव व्यक्तित्व को स्वीकार करता हुआ अपनी बाध्यताओं से पराभूत हो जाता है -

''हाथों में लेकर
बैठा हूँ
कागज के टुकड़े ।
टुकड़े जिनके
नाम लिखे हैं
खेत और खलिहान
टुकड़े जिनके

नाम लिखे हैं
टूटे हुए मकान
करते रहे
चोट हम लेकिन
पाँव नहीं उखड़े ।"[७]

जहां संवेदनाओं में सौन्दर्यानुभूतियों की सन्तुष्टि और आनन्दोत्सवी उद्‌भावनाओं का प्रसरण है, वहाँ नवगीत मानवीय संवेदनाओं को झकझोर कर जगाना चाहता है । यदि उद्दीपन विभावों मं मनुष्य अपनी सहज प्रकृति के अनुकूल संवेदनशील नहीं हो पाता तो नवगीतकार, जो स्वयं अतीव संवेदनशील प्राणी है, सहज आश्चर्य ही व्यक्त कर सकता है -

"नीम तरु से फूल झरते हैं,
तुम्हारा मन नहीं छूते,
बड़ा आश्चर्य है ।
रीझ, सुरभित-
हरित वसना घाटियों पर,
व्यंग्य से हँसते हुए
परिपाटियों पर,
इन्द्रधनु सजते-सँवरते हैं,
तुम्हारा मन नहीं छूते,
बड़ा आश्चर्य है ।"[८]

इस तरह नवगीतकार किसी संत्रस्त और पीड़ित वर्ग से सहानुभूतिपूर्वक सरोकार रखता हुआ उन तमाम साम्राज्यवादी, पूँजीवादी शक्तियों को नकार देता है, जो उसे सम्पन्नता प्रदान करने का मात्र आडम्बरी आश्वासन देते हैं । नवगीतकार सोमठाकुर अपने एक गीत में कहते हैं -

'शाहों से क्या लेना-देना
अपनी यारी दिलदार से है ।'

संवेदनाओं का धरातल दुखद भी है और सुखद भी, एवम् तटस्थ भी । किन्तु इन तमाम पड़ावों पर गीतकार स्वयं कहीं तटस्थ नहीं रहता । प्रसंग चाहे प्रकृति का हो या नारी का, श्रृंगार का हो अथवा प्रेम का, वैयक्तिक अनुभूतियों के आधार पर वह अपनी उदात्त परिकल्पनाओं से जो बिम्ब स्थापित करता है, उसमें कहीं न कहीं संवेदनशील आत्मकथ्य अवश्य होता है -

"कर दिए लो आज गंगा में प्रवाहित,
सब तुम्हारे पत्र, सारे चित्र,
तुम निश्चिन्त रहना ।
धुंध डूबी घाटियों के इन्द्र धनु तुम

छू गया नभताल, पर्वत हो गया मन ।
बूँद भर जल बन गया पूरा समन्दर,
पा तुम्हारा दुख, तथागत हो गया मन ।
अश्रुजन्मा गीत कमलों से सुवासित,
यह नदी होगी नहीं अपवित्र,
तुम निश्चिन्त रहना,
दूर हूँ तुमसे न अब बातें उठेंगी;
मैं स्वयं रंगीन दर्पण तोड़ आया ।
वह नगर, वह राजपथ, वे चौक गलियाँ,
हाथ अन्तिम बार सबको जोड़ आया ।
थे हमारे प्यार से जो-जो सुपरिचित,
छोड़ आया वे पुराने मित्र,
तुम निश्चिन्त रहना ।''[१]

भारतीय मनोवृत्ति में प्रकृति प्रारम्भ से ही चेतन और परम तत्व के रूप में आदरणीय मानी जाती रही है । बदलते हुए परिवेश के कारण 'प्रकृति' सुख-दुःख, हर्ष-विषाद् आदि का अनुभव करने वाले 'मनुष्य' का रूप धारणकर 'मानवीय' सिद्ध हो चुकी है । प्रकृति के स्वतन्त्र दृश्यालोकों का अभाव 'नवगीत' में नहीं है, किन्तु ऐसे चित्रों की अपेक्षा वह विशेषकर मानव-अनुभूति में रस-बस कर, उसके जीवन का अभिन्न अंग बनकर ही आई है । नवगीत के अधिकांश कवियों ने प्रकृति को माध्यम बनाकर मानवीय संवेदना को अत्यन्त सजीव एवम् सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान की है । इस सन्दर्भ में नवगीतकार डॉ. जगदीश 'अतृप्त' की कुछ नवगीत-पंक्तियाँ द्रष्टव्य है -

''एक फागुन और
तुमको दे रहा हूँ मैं ।
हाँ वही झरते-बिखरते पात,
उड़ती धूल,
वही सूनी हवा,
वे ही पत्रहीन बबूल,
तुम्हें जैसा भी लगे, पर-
एक फागुन और तुमको
दे रहा हूँ मैं ।
बीत जाये यों न
कितनी बार यह मौसम,
जी उठेंगे हर नये
ऋतुचक्र में तुम-हम,
एक स्मृति का दंश तीखा

एक जीवन और तुमको
दे रहा हूँ मैं ।"[१०]

उपर्युक्त गीत-खण्ड में कवि ने प्रकृति को माध्यम बनाकर मनुष्य को भविष्य के प्रति आश्वस्त रहने और जीवन के प्रति आशावान रहने के लिए कहता है और इसके लिए सम्पूर्ण ऋतुचक्र को निछावर कर देना चाहता है । किन्तु दूसरी ओर कवि-मन प्रकृति के प्रति उदासीन है, उसे पतझर ने झकझोर कर रख दिया है । वह उदास और व्यथित है -

"पियराये पात झर गये,
और मन उदास कर गये ।
कब का मधुमास ढल गया,
कहने को पर पतझर था,
मेरे दुख के दिन भी
आँख चुराकर गुजर गये ।
शेष रही सूनी दुपहर,
गर्म हवा, ऊबती उमर,
धूल जमी पर्त-पर्त
तिनके-तिनके बिखर गये !"[११]

नवगीत में 'प्रकृति' मानवीय संवेदना बनकर सहजता से मुखर हो सकी है । यहाँ तक कि, नवगीत में प्रकृति स्वयं बोलती नज़र आती है । कहीं नदी बोलती है, तो कहीं नाव बातें करते हैं और कहीं-कहीं तो झांझर, गागर, सीपी और शंख भी बातें करते कवि को दीख जाते हैं -

"आज ज़रा-सा पानी बरसा
जाग उठी आवाज़ नदी में ।
बोली नाव, किनारे बोले
लहरों के इकतारे बोले
झांझर बोली, गागर बोली
जो भी थे, वे सारे बोले
पानी ने जब छुआ, बज उठे-
तरह-तरह के साज नदी में ।"[१२]

वैसे तो नवगीतों में भारतीय गृहस्थ के उच्चतम्, मध्यम् और निम्नतम् तीनों ही वर्गों के परिवेश को रेखांकित किया गया है, किन्तु आरामपरस्त और सुविधाभोगी उच्चवर्ग की मनोदशाओं को केवल संस्कारग्रस्त सन्दर्भों में ही स्पर्श किया गया है । इन तीनों वर्गों के अतिरिक्त कुछ दृश्य सामान्य धरातल पर भी खड़े किये गये हैं, जो, या तो प्रगति परख हैं या फिर जीवन की सहज व्याख्या करते हुए सामने आते हैं ।

जहां तक संवेदनाओं के आकलन का प्रश्न है, अभिजात या कुलीन वर्गीय उच्चवर्ग, वर्णों के तमाम पड़ावों से दूर रहा है । इसके कुछ विशिष्ट कारण भी हैं जिनमें प्रमुख यह है कि, रचनाकार स्वयं या तो इतिहास-वर्ग की पंक्ति में शामिल है, अभाव, दमन, शोषण, संत्रास आदि का स्वयं शिकार है और जिस जमीन पर वह खड़ा है, वहाँ से दिखाई देने वाले चमचमाते संगमरमरी प्रासाद, वातानुकूलित बंगले और तमाम साज-सज्जाओं से सुविधा-संपन्न आधुनिक, प्राशासनिक कक्ष, ये सब-के-सब सामान्य या उपेक्षित ज़िन्दगी जीनेवाले रनचाकार के लिए सर्वता त्याज्य ही रहे हैं; या फिर कहा जा सकता है कि, उच्चवर्गीय दैनन्दिनी में शामिल होकर उनकी संवेद्य पीड़ाओं से रचना का साक्षात्कार नहीं हो पाता है । पीड़ाएँ और तकलीफें उच्च-वर्ग की भी हैं । जहाँ अधिकारों की लड़ाई है, जहाँ अन्तःगृह में वित्त-विभाजन की समस्याएँ भी हैं जिन्हें रचनाकार ठीक ढंग से अनुभव नहीं कर सके । संभवतः इसी कारण रचनाकार के लिए यह वर्ग आत्मीयता की परिधि से दूर है और आलोचना का विषय बनकर रह गया है ।

एक दूसरा कारण भी है । नवगीत की पृष्ठभूमि मुख्य रूप से उन गरीब और निम्न वर्ग के संत्रास और दमन पर आधारित है जिसके मूल में साम्यवादी चेतना के बीज अंकुरित हुए हैं, और जो पूँजीवाद का सीधा विरोध करता है । जहाँ तक कविता में संवेदनाओं का प्रश्न है, वह सामान्य मनुष्य की अभावग्रस्त पीड़ाओं से ही उद्‌भूत होती हैं । इस प्रकार रचनाकार जब कविता में आत्म-संवेदना के तथ्यों को उजागर करता है तो वह सम्पन्न और धनाढ्य वर्ग की संस्कृति से अलग भूख से छटपटाते उन गाँवों और देहातों की ओर अनायास ही चला जाता है, जहाँ आम आदमी ज़िन्दा रहने के लिए संघर्षरत है -

''आग के समन्दर में
कागज की नाव,
अपना यह गाँव ।
दीवारें ढोती हैं
धुएं की कथा,
चेहरों पर पुती हुई
जलन की व्यथा,
बस्ती भर नाच रहा
नंगा आतंक
यहां ज़िन्दगी जैसे
बिच्छू का डंक,
सुलगी दोपहरी में
कोढ़ी के पांव,
अपना यह गांव ।''[१३]

नवगीत - कवि विद्यानन्दन राजीव कहते हैं -

"कब क्या लिखे कलम
कल ही तो
उछला एक सवाल !
रंगमंच पर
चीत्कार है
शब्द रसाल नहीं,
अचरज क्या
यदि नये गीत में
स्वर-तुक-ताल नहीं,
उसमें स्पन्दित है
इस युग का
उठता हर भूचाल !"[१४]

वैसे भी यह देश गरीब-बाहुल्य है । गाँवों, देहातों, कस्बों व तहसीलों में दूर-दूर तक आम आदमी अभावग्रस्त निर्धनता की ज़िन्दगी जीने के लिए बाध्य है । देश का वह अंचल सुदूर दक्षिणी प्रान्तों के गांवों का भी हो सकता है, जहाँ बच्चे भात और मछली के टुकड़ों के मोहताज हैं, या फिर वह अंचल बिहार के किसी गाँव का भी हो सकता है, जहाँ गरीबी के कारण लूट-खसोट, गुण्डागर्दी, अपराध और आतंक के बीच संघर्षरत आदमी अपने जीविकोपार्जन के लिए जीविका की तलाश में दर-बदर ठोकरें खाता-फिरता रहा है । सुधांशु उपाध्याय की ये नवगीत पंक्तियाँ यही कहानी कहती हैं-

"चारो तरफ धुआं है ।
पूरी चमरौटी में केवल
एक कुआं है !
राजा राजा, प्रजा प्रजा है,
तीन पीढ़ियों का कर्जा है
कन्धे बदले
वही जुआ है !
जेल में लाठी चली है,
बर्फ अब जाकर गली है,
खेत पर
दंगा हुआ है !"[१५]

इस प्रकार नवगीतकार को यह बदहाली की स्थिति सम्पूर्ण राष्ट्र के जन-साधारण के जीवन में दिखाई देती है । चारो ओर इस दृश्य को देखकर उसका मन खिन्न हो उठता है और कहने के लिए बाध्य हो जाता है कि -

"ठंडा खून
गरम हैं नारे
बेच रहे ईमान ।
लिये कटोरा
घूम रहा है
सारा हिन्दुस्तान ।
फुटपाथों पर
पत्थर रखकर
सिरहाने सोये,
कातिल, कातिल
से कहता है
दाग नहीं धोये ?
अपने ही घर
में खोयी है
चेहरों की पहचान ।"[१६]

संवेदना के स्तर पर नवगीतकार उस वर्ग-विशेष का भी प्रतिनिधित्व करता है जो अपनी तंगदिली दैनन्दिनी से घबराकर या भूख से भागकर शहर आ गया है और शहर की प्रदूषित हवा में वह बार-बार अपने घर या गांव लौट जाने के लिए बेचैन हो उठता है । उसे उसका भूखा, गरीब गाँव फिर से सलोना लगने लगता है जब वह शहर की स्वार्थी व्यवस्था में चरमराकर टूटने जैसा हो जाता है। वह अतीत को याद करता है और आशान्वित होता है कि कभी-न-कभी वे दिन पुनः लौट कर आयेंगे-

"लौटेंगे जल्दी ही घर को
करके वादे दिन,
कहां खो गये देहाती से
सीधे-सादे दिन ?...
मेलों जैसे कुर्ते उनके
खुली हवा-सी धोती,
गमछों बंधे लोकगीतों के
गुड़, सत्तू औ'रोटी,
मिलें जिसे
वह दया करे
मुझ तक पहुंचा दे दिन ।"[१७]

या कि सुरेन्द्र पाठक के शब्दों में -

"भूखे पेट न जिसको
सोने देती थी दादी,
उपवासों का वही हो गया
नाती अब आदी,
रहने लगे महल में
आंगन गन्ध विराजी है,
खत्म हो गये लेकिन सब सम्बन्ध अंतड़ियों के ।
हींग पीसकर वैसा
दुखते माथे पर रखना
सिर की गोली से होने दे
मन कैसा चिकना,
बिजली वाले चूल्हे के ये
दिन ठंडे-ठंडे,
याद दिलाते हैं भाभी के दिवस लकड़ियों के ।"[१८]

शहर की ज़िन्दगी से घबराया कवि अपनी अन्तर्व्यथाओं को जब संवेदना के स्तर पर जीता है, तो उसके मन की व्यथा इस प्रकार व्यक्त होती है -

"बुझ गये घर, छत, मुंडेरे
हुआ सूरज राख
अब हम कहाँ जाएं, किसे टेरें ?
अब नहीं छूती
हवा की उंगलियाँ लहरें,
दृश्य-प्यासी दृष्टियाँ
किस ठौरे जा ठहरें !
जड़ें पानी
घाट ताकें
हुआ सब कुछ स्याह
अब हम नाव अपनी किधर फेरें ?"[१९]

शहर में कवि की आत्मीय संवेदनाएं जैसे सो जाती हैं । वह एक मशीन मात्र बनकर अपनी दैनिक दिनचर्या में जुट जाता है । शहर में जो भीड़ का अंधेरा है, उसमें गुमनाम जीवन जीता हुआ कवि जब अत्यन्त संवेदनशील और भावुक हो जाता है, तब वह यही कहता है -

"वर्तमान ने मुझे दिया है, यह सूखा मंजर
वे सब आये हैं, भविष्य से आतंकित होकर

सूखे होंठ, झूलते कन्धे, बोझ किताबों के
एक सदी जकड़े पावों को, एक सदी सर पर
साथी हम चौराहे तक, फिर सफर अकेला है
शहरों के हिंसक जंगल में, सूखे सागर में
रोटी मुझे खींच लाई है -
इस जलते घर में ।''[२०]

शहर में रहकर जैसे व्यक्ति की संवेदनाएं सुसुप्त हो जाती हैं, वह आत्मकेन्द्रित हो जाता है । या यों कहा जा सकता है कि, जैसे वह एक वनचर है जो अपनी आत्मक्षुधा को तृप्त करने के लिए शिकार की तलाश में भटक रहा है । सुखद स्वप्नों की रमणीय बातें धीरे-धीरे उसके जीवन्त क्षणों से दूर होती चली जाती है -

''नागफनी से घिरे
गुलाबों का क्या करें !
सारे छज्जे, छत
पथराव में
जीते हैं घृणा के अलाव में
हम घर की जलती
मेहराबों का क्या करें !
चीलों ने डैनों से
आसमान घेरा
दुबका है गौरैये-सा
नया सबेरा
गोली की हद में
सुर्खाबों का क्या करें !''[२१]

जहां गीतकार शहरी परिवेश को चित्रांकित करता है तो ऐसा ही लगता है, जैसे वह संवेदना के स्तर पर इस परिवेश से जुड़ नहीं पा रहा -

''ऊपर नीचे सिर्फ गुम्बदी धुआं
अंधेरे का ।
झेल रहा हूँ दर्द शहर के
नये सवेरे का ।
बिस्तर छूटा दुर्घटनाएँ
दाएँ-बाएँ हैं ।
शोर-शराबे चायघरों के
मुँह लटकाये हैं ।
आँखों में है सर्द पठारों जैसी खामोशी

फैल रहा दायरा फास्फोरस के घेरे का ।''[२२]

बात केवल शहर में व्याप्त प्रदूषण की ही नहीं है, बात उस खत्म होती जा रही ग्रामीण पहचान की भी है जो अपनी आंचलिक विशुद्धता के नाम पर आज तक गौरवान्वित थी । नवगीत-कवि बार-बार यह कहने से अपने आपको रोक नहीं पाता है -

''नगर की बेहद नशीली
नित्य आयातित हवाएँ
गांव को भरमा रही हैं,
पीढ़ियों की
पूर्व अर्जित सम्पदाएँ
गिद्ध-दृष्टि जमा रही हैं,
लोग मिट्टी की महक को
आज देने जा रहे
वनवास,
चुप कैसे रहूँगा ?''[२३]

राजेन्द्र गौतम इस व्यथा को व्यंग्य की भाषा में एक अलग ही ढंग से प्रस्तुत करते हैं -

''आओ मिलकर
आज करें हम
गिद्धों का आयात ।
सिद्धान्तों की
लाशों का भी
कुछ तो हो उपयोग,
मुश्किल से मिलते हैं
ऐसे महाभोज-संयोग,
बचें भेड़ियों की
बस्ती में
क्यों ये आदम जात ?...
छोटी-सी
डाली पर भी क्यों
शेष रहे हरियाली
सभी दिशाओं को
डंस ले यह
दावानल की व्याली
संध्या -

आंतों की सौदागर
रक्त सनी हो प्रात ।"[२४]

चूंकि अधिकांश नवगीत-कवि ग्राम्यांचलिक परिवेश से ही आये हुए हैं, इस कारण संवेदना-पटल पर वे ग्राम्य - परिवेश के अधिक समीप विचरण करते नज़र आते हैं, जहाँ सामान्यतः भूख, अभाव, बेरोजगारी, अन्याय, दमन और शोषण का वातावरण बना हुआ है । वैसे कोई जरूरी नहीं है कि गांव का थकाहारा हुआ नौजवान शहर में भी संत्रस्त और घुटनपूर्ण जीवन जीने के लिए बाध्य हो । किन्तु गीतकार की सन्निहिति जब संवेदना के स्तर पर साक्षात्कार होती है, तब वह शहर में व्याप्त असन्तोष, अतिचार और प्रदूषित समाज व्यवस्था का लेखा-जोखा ही उसके सामने अधिक मुखर होता है ।

आत्मीय संस्पर्श :

नवगीत का मुख्य स्वर सामान्य व्यक्ति के उस वातावरण की सृष्टि करता है, जहाँ उसके अपने लोग हैं, अपना स्वार्थ है, अपना स्वाभाविक परिवेश को रेखांकित करता है, जहाँ वह स्वयं मौजूद रहता है । कवि की अपनी वैयक्तिक आत्मीयता एक निश्चित संवेदनशील घर, कुटुम्ब, बन्धु-बान्धव, मित्र-परिवार आदि उपस्थित हैं । समय की विभीषिकाएँ गीतकार को व्यथित भी करती हैं और उद्वेलित भी । वह वैयक्तिक अनुभूतियों के आधार पर समष्टिगत चेतना को आत्मीयता के परिवेश में ही उजागर करता है । वह बार-बार खुशियों की सम्भावनाएँ तलाशता है । हर्ष और संतुष्टि के क्षण ढूँढ़ता है। किन्तु व्यवस्था के बदलाव के कारण जो अलगाव सामान्य जीवन में पैदा हुआ है, वह हर सामाजिक व्यक्ति को बहुत दूर तक छीलता-कुरेदता चला गया है । सामायिक परिवेश में सबसे बड़ी त्रासदी है - मूल्यहीनता की । परम्परित संस्कारों में पल्लवित और अपनी निजी संस्कृति व सभ्यता के व्यामोह में रचा-बसा आम आदमी जब सबकुछ बिगड़ता और टूटता हुआ देखता है, तब वह इस 'सबकुछ बिगड़े हुए' माहौल में अपनी निजी एकान्तिकता में खोया हुआ बार-बार अपनी विगत अस्मिता को ढूँढ़ने लगता है । नवगीत-कवि रमेश गौतम लिखते हैं -

"एक कोना ढूँढ़ती फिरती
अभागी
आँगनों के बीच
माँ तुलसी हमारी
छीन ली आकाशचुम्बी
होटलों ने
द्वार से पीपल पिता की
भूमि सारी
जो बना आदर्शवादी
बस्तियों में
फिर उसे बनवास

वर्षों का मिला
नयन में नीली प्रतीक्षा बाँधकर
हो गईं मन की
अयोध्याएं शिला ।''[२५]

इसी क्रम में जब व्यक्ति अपने वजूद से अलग-थलग पड़कर अपनी पहचान ही खो देता है तब अपने इर्द-गिर्द उसके आत्मीय सम्बोधन भी जैसे आडम्बर युक्त होकर पहचान की सीमा से दूर हो जाते हैं। उमाशंकर तिवारी के नवगीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस बात की पुष्टि करती हैं -

''सफर के वक्त मेरे साथ मेरा घर नहीं होता
कभी शीशा चिटकने का भी मुझको डर नहीं होता ।
सफर में सिर्फ चलती सांस, ज़िन्दा पाँव ही होते-
कोई मंज़िल, कोई भी मील का पत्थर नहीं होता ।
यही पैगाम लेकर मैं कभी,
घर से निकल जाता-
तो मेरे सामने होते हज़ारों आईना चेहरे,
शिखर को चूमते चेहरे
खुशी से झूमते चेहरे ।''[२६]

नवगीत में आत्मीयता का सम्पूर्ण एहसास स्थान-स्थान पर व्यक्त हुआ है । अनूप अशेष की इन नवगीत-पंक्तियों को देखें, जिनमें आत्मीय संस्पर्श का अत्यन्त ही अनोखा दृश्य दिखायी पड़ता है -

''कितनी बार अंधेरा जागा
कोहरा कितनी बार ।
खाली धुआँ मुँडेरी पकड़े
रोया कितनी बार ।
अक्सर घर में रही रसोई
बिना गन्ध के सोयी
बच्चों की आँखों में
अम्मा के आँचर में रोयी ।
कितनी बार भोर की किरनें
आयीं भूख पखार ।
अपने दरवाजे देहरी पर
दिन की दीठ उतार ।''[२७]

इसी स्वर को बल देते हुए यश मालवीय कहते हैं कि -

''पिता बूढ़ा है कि

कुछ दिन का कहो मेहमान-सा है
रात के काले पहर में
एक आतिशदान-सा है
यह अंधेरा और गहरा
और भी गहरा
बहुत मुश्किल से
उजाला एक भी आखर लिखेगा
मौन दरवाजा भले जर्जर
कि घर की शान-सा है ।[२८]

नवगीत का रचनाकार बार-बार अपने कथ्य को अपने आत्मीय संस्पर्श से संवेदनशील बना देता है । अशोक 'अन्जुम' की निम्न नवगीत-पंक्तियों का कथ्य कितनी आत्मीयता लिये हुए है -

"हमीं जब संभले नहीं तो
आँधियों से क्या गिला !
टूटना ही था किला ।
काम अपने नाम के थे
रास्ते भी थे गलत
और सोचों पर जमी थी
धूल की मोटी परत,
और उस पर साथ अपने
रहजनों का काफ़िला !
टूटना ही था किला ।
गोटियां हमने बिठायीं
कुछ इधर या कुछ उधर,
जाल बुनते ही रहे हम
कब रुके फिर उम्रभर,
यूँ उजालों ने सचेता
पर थमा कब सिलसिला !
टूटना ही था किला ।"[२९]

वर्तमान जर्जर व्यवस्था ने व्यक्ति, विशेषकर जन-सामान्य को जैसे जड़ कर दिया है । आत्मीयता, जैसे मर गई है । जीवन-मूल्यों का व्यवसायीकरण हो गया है । व्यक्ति निहित निजी स्वार्थों के तहत अपने वैयक्तिक सरोकारों को बदल रहा है -

"एक-एक कर पीछे
छूट गये सारे

वे दुआ सलामों के
बोझिल सम्मोहन
बर्फ़ीली खूहों में
तोड़-चुके दम हैं
रोमिल खरगोशों से
परिचित सम्बोधन
एक अजनवीपन ही भरा
हर नज़र में ।"[३०]

ऐसी ही आत्मीय अभिव्यक्ति निम्न नवगीत-खण्ड में देखें जिसमें व्यक्तिगत मनोव्यथा को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि वह, समष्टिगत दृष्टि-पटल पर अनायास ही दृष्टिगोचर होने लगती है । इन पंक्तियों के लेखक की अपनी अनुभूति जन-साधारण की आत्मा का स्पर्श करती प्रतीत होती है -

"घर के हैं हालात बुरे कैसे घर जाऊँ
उलझे हैं अरमान अरे कैसे सुलझाऊँ ?
दद्दा-दादी पके पान से,
जीर्ण-शीर्ण जर्जर मकान से,
अम्मा-बाबू उम्र ढले हैं
भाग-दौड़ के इम्तहान से,
'अपना' कहते जिन्हें शान से
बैर किये हैं वहीं जान से,
अपने-अपने स्वार्थ भले हैं
बन बैठे हैं सब महान से ।
सबके हैं अन्दाज़ खरे, कैसे समझाऊँ
घर के हैं हालात बुरे, कैसे घर जाऊँ ?"[३१]

नवगीतकार ने आत्मानुभूति के विसर्जन के बग़ैर ही गीत को समष्टि की अनुभूति के साथ जोड़ा है। अन्य शब्दों में, समष्टि के उस तीव्र संवेदन को, जो सामायिक सन्दर्भों से रचनाकार को अभिव्यक्ति के लिए बाध्य कर रहा है, जब अपने भीतर भी स्पन्दित पाया है, तभी उसे अभिव्यक्ति दी है । नवगीतकार देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की ये नवगीत-पंक्तियाँ यहीं बात कहती हैं -

"शाख से
टूटकर
एक पत्ता गिरा ।...
धुन्ध में
खो गयी
एक दीपावली

प्यास की आँख में
रिक्त गंगाजली
एक सपना
अपाहिज
नदी पर तिरा''[३२]

नवगीत में केवल पीड़ा को ही अभिव्यक्ति नहीं मिली है, अपितु उसने आधुनिक जीवन के प्रायः सभी सन्दर्भों को अभिव्यक्ति दी है । आज सम्बन्ध पथरा गये हैं । युग की यांत्रिकता में मानवीय संवेदना को ढूँढ पाना आसान नहीं । भीड़ के शोर में आदमी बहुत अकेला और अजनबी हो गया है -

'धूप के हुए
न कभी छाँव के हुए,
हम जब भी हुए,
शकुनि-दाँव के हुए ।...
लाक्षागृह
षड्यन्त्रों के सुघड़ बनाये,
अपने ही
स्वजन हमें शत्रु नज़र आये
शहर के हुए
न कभी गाँव के हुए ।
धूप के हुए
न कभी छाँव के हुए ।''[३३]

उसके एक ओर कोलाहल भरा गर्जता समुद्र है, दूसरी ओर उसके भीतर का निचाट सन्नाटा -

''घरों से
उठती भमक-सी
छतों से उठता धुआं है ?
पत्तियाँ गुमसुम
शहर में
आँधियों के सिलसिले हैं
देशद्रोही हो गये मन्दिर,
बने घर-घर किले हैं,
हर किसी की आँख में
अवसाद का दिखता धुआं है
इस समय को क्या हुआ है ?''[३४]

बाध्य और आन्तरिक दबावों के बीच टूटना-पिसना भर व्यक्ति की नियति रह गई है -

"बाहर से भरा-भरा जीता है आदमी ।
उतना ही भीतर से रीता है आदमी ।
लगी हुई राशन में
भूख की कतारें
कर्जे की सुरसा को
किस तरह उतारें,
कितने दुःख-दर्दों की गीता है आदमी ।
रेप लिये जीवन में
इतने अंधियारे,
बढ़ते कोलाहल में
अब किसे पुकारें ?
अपना ही खून आज पीता है आदमी ।"[३५]

MEHTA LIBRARY
M. S. University of Baroda

अतएव नवगीत की वेदना बहुआयामी है जो कवि और जन-सामान्य की आत्मानुभूति से निस्सृत होती है और पाठक या श्रोता का आत्मीय संस्पर्श करती हुई अग्रसर होती है । नवगीत में रिक्तता का बोध बहुत तीव्र है । इसी कारण यहाँ मौन, उदासी, भयंकर सूनापन और नितान्त अकेलापन एक भटकती सूनी आवाज-सा मिलता है । यह आवाज समूचे युग की अनुभूति तो है ही, साथ ही कवि का आत्मानुभव भी है । यह सूनापन नगर-बोध के द्वारा और तीव्र हुआ है -

"मन है एक, दर्द हैं अनगिन
किससे कहें व्यथा
भीतर सब कुछ टूटा-टूटा
बाहर जुड़ा-जुड़ा ।
भूखा पेट रहा दौड़ाता
मारे-मारे फिरे
शहर तक पांव भगा लाये,
बहराये सब रिश्ते-नाते
दस्तक थकी-थकी
भाल पर चोट लगा लाये,
विज्ञापन-सी हुई ज़िन्दगी
खोया अपनापन
फटी जेब में जैसे कोई
कागज मुड़ा-मुड़ा ।"[३६]

नवगीत में गृहरति की अभिव्यक्ति का कारण भी अपने सहज निसर्ग परिवेश से कट कर कवि के एक अनवरत यंत्रणा-क्रम से जुड़ जाने का परिणाम है । जिस जमीन से वह उखड़ा है, उसके सांस्कृतिक परिवेश का छूटना वर्तमान जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है -

"यह शहर जिसको
हृदय में प्यार से मैंने बसाया
घुटन बनकर रह गया है
ज़िन्दगी के वास्ते
चलूँ इसको छोड़, अपना गाँव ले लूँ ।
छोड़ता हूँ सांस
तो लगता कि जैसे
धुआं प्राणों से निकलता है,
बात करता जब किसी से
कण्ठ में तब दर्द का
पत्थर फिसलता है
आधुनिकता की सभी बैसाखियाँ
जो मिलीं मुझको
ग्रहण अब वे बन गई हैं
ज़िन्दगी के वास्ते
चलूँ इनको छोड़, अपने पांव ले लूँ ।"[३७]

गीतों को आत्मीय संस्पर्श देने के लिए गीतकार कभी अपने पारिवारिक शैशव को जीवन्त दैनन्दिनी से जुड़ता है, कभी अपने आस-पास की रोजमर्रा की ज़िन्दगी से रू-ब-रू होता है । कभी नगर की टूटती भंगिमा और आरोपित असह्य बदलाव से व्यग्र होता है, या फिर ग्राम्य-परिवेश के बदले हुए समीकरण से खौफ़ खाता है । अधिकांश नवगीतकारों ने जहाँ भी अपनी रचनाओं में आत्मीय संस्पर्श देने का आग्रह रखा है, वहाँ किसी-न-किसी रूप में उसके व्यतीत भोग्य क्षण उसके मानस-पटल पर उभर आते हैं । वर्तमान की त्रासद व्यथाओं में झुंझलाता हुआ वह बार-बार अपने अतीत के सम्मोहन से जुड़ने का प्रयत्न करता है । इस क्रम में उसे अपना बचपन याद आता है, गली-मुहल्ले की संस्कृति याद आती है । विगत सभ्यता की उदारता और आत्मीयता की स्मृति ताजा हो जाती है, और याद आता है उसे अपना छोड़ा हुआ गाँव । ग्रामीण परिवेश से नवगीतकार अधिक ही संलग्न हुआ जान पड़ता है । शहर की बनावटी रंगीनियों से वह बार-बार ऊब जाता है और प्रायः अपने गांव की चरचा करने लगता है -

"आंधियों में उड़ गया परचा
इस शहर में
गांव की चरचा ।

क्यों न चिट्ठी
घर तलक पहुंची
क्यों न पहुंचा डाकिया द्वारे ।
हाथ से छूटे अचानक ही
गैस के रंगीन गुब्बारे ।
आंख में अन्धी प्रतीक्षाएँ
कह कहां पर
हाथ में मलतीं,
बांध आंचल में चबैना कुछ
दो मशालें रात भर मलतीं ।
ये दधीचि हड्डियां कहतीं
क्या नहीं, इसने यहां खरचा ।''[३२]

किन्तु अब तो गांवों का भी शहरीकरण होने लगा है । गाँव में परिवर्तन हो रहा है । सड़के बन गई हैं । बिजली आ चुकी है । ट्युबवेल चलने लगे हैं । बैलों की जगह ट्रेक्टर घूमने लगे हैं । विभिन्न वैज्ञानिक संयन्त्रों ने खेतों-खलिहानों में होनेवाले कार्यों को आसान बना दिया है । पक्के मकान भी बन गये हैं । यानी, अब न वे धूल भरी पगडंडियाँ हैं, न दर्रे हैं, न बैलगाड़ी हैं और न ही कुएं की जगत पर बैठकर ईख चूसते हुए लड़कों का हुजूम दिखाई पड़ता है, न पनघट पर ग्राम्य वधुओं, कन्याओं की खिलखिलाहटें हैं, न आम-इमली के नीचे डाल पकड़कर झूलते बच्चे हैं, न हुक्कों की गुड़गुड़ाहट है, न आतिथ्य सत्कार की सुगन्ध, न संयुक्त परिवार की खुशहाली है और न ही मुहल्ले के चबूतरों पर शाम की चर्चा करते बुजुर्ग । लगता है गांवों की पहचान धीरे-धीरे खोती जा रही है -

'ये शहर होते हुए-से गाँव
पहचाने नहीं जाते ।
लोग जो फौलाद के मानिन्द थे,
अब रह गये आधे
दौड़ते-फिरते विदूषक-से
मुरेठा पांव में बांधे,
नाम से जुड़ते हुए कुहराम
पहचाने नहीं जाते ।
अब न वे नदियाँ, न वे नावें,
हवाएं भी नहीं अनुकूल,
हर सुबह होती किनारे लाश,
पानी पर उगे मस्तूल,

आंधियों के ये समर्पित भाव
पहचाने नहीं जाते ।"[३९]

गांव शहर बनते जा रहे हैं । शहर बनते हुए गावों के अतीत में जैसे नवगीत-कवि के सपने दफ़न होते जा रहे हैं । गांवों में व्यवस्था का कहर व्याप्त है । हाकिम-हुक्कामों की इजाराशाही पैठी हुई है। तहसीली और शहर की कचहरियों में मुकदमों के प्रपंच में फंसा हुआ ग्रामीण जैसे धीरे-धीरे बुझ रहा है । नवगीतकार इस टूटते हुए और बुझते हुए व्यक्ति की बाहें थामता है । उसे काका रामकरन की भी याद आती है तो पड़ोसन भौजाई रामकली की भी । शहर के जहरीले धुएं की दमघोंटू जिन्दगी में बेचैन गीतकार बूढ़े बाप की आंखों के मोतियाबिन्द का उपचार कराना चाहता है । टीबी से अधमरी हो चुकी अपनी अम्मा को अपने साथ रखना चाहता है । अपने छोटे भाई कलुआ की छोरी के व्याह में कुछ मदद करना चाहता है । अपने बिखरते घर-परिवार को बाहों में समेट लेना चाहता है, किन्तु परिस्थितियों ने उसे मजबूर कर दिया है । वर्जनाएं उसे बार-बार कमजोर कर देती हैं । देवेन्द्र कुमार की इन नवगीत-पंक्तियों को देखें जिसमें अभावों के कारण कवि की आत्मानुभूति सामान्य-जन की संवेदना का आत्मीय संस्पर्श करती प्रतीत होती है -

"हम ठहरे गाँव के
बोझ हुए रिश्ते सब
कन्धों के, पाँव के ।
भेद-भाव, सन्नाटा,
ये साही का काँटा,
सीने के घाव हुए
सिलसिले अभाव के ।"[४०]

आत्मीयता जब अत्यधिक मुखर होती है तो एक छोटी सी खुशी भी गीतकार को संवेदना के स्तर पर अभिनव आनन्द से भर देती है । गीतकार जगदीश श्रीवास्तव की निम्न नवगीत-पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

"सोंधी गंध उठी माटी से
बूँदें बरस गईं
    पत्तों पर ठहरी शबनम ने
    जितने गीत लिखे
    बूँदो के दर्पण में देखा
    अनगिन चित्र दिखे
खुद से ही मिलने अनजाने
बूँदें तरस गईं
    चल तरंग-सी बजी हवा में
    गमक उठी माटी

पंछी की स्वर लहरी से फिर
गूँज गई घाटी
सिहर-सिहर जाता है मन ये
बूँदें बरस गईं ।''[४१]

नवगीत में प्रिय-वियोगजन्य निराशा भी आत्मीय संस्पर्श करती दिखाई पड़ती है । कवियों ने आत्मीय संस्पर्श के विभिन्न पहलुओं को सहजता से उभारा है । डॉ. शम्भुनाथ सिंह की निम्न नवगीत पंक्तियाँ सहज ही हमारा आत्मीय संस्पर्श कर लेती हैं -

'छिप-छिपकर चलती पगडंडी वन-खेतों की छांव में ।
अनगाये कुछ गीत गूँजते
हैं किरनों की हास में,
अकुलायी-सी एक बुलाहट
पुरवा की हर सांस में ।
सूनापन है उसे छेड़ता-छू आंचल के छोर को,
जलखाते भी बुला रहे हैं बादल वाली नाव में ।
रुनझुन बिछिया झींगुरवाली
किंकिनि ज्यों बक-पांत है,
स्वयंवरा बन चली बावरी
क्या दिन है, क्या रात है ।
पहरू से कुछ पीली कलगी वाले पेड़ बबूल के
बरज रहे हैं, पाँव न धरना भोरी कहीं कुठाँव में ।
अपना ही आंगन क्या कम जो चली पराये गाँव में ।''[४२]

नवगीत-काव्य में सम्बन्धों की आत्मीयता केवल व्यक्तियों के बीच ही न रहकर वस्तुओं के प्रति भी मुखर हुई है । कवि संवेदनशील होता है, इसलिए संवेदना के स्तर पर वह अपनी रचनाओं में अपने आत्मीय संस्पर्शों को अपने से अलग नहीं रख पाता ।

व्यष्टि और समष्टिपरक औदार्य :

नवगीतकार ने युगानुभूति एवम् स्वानुभूति के बीच की पार्थक्य रेखाओं को मिटाकर गीत-शिल्प को एक क्रान्तिकारी मोड़ दिया है । यह क्रान्तिधर्मिता केवल मूलोच्छेदित आधुनिकता नहीं है, अपितु कविता की सही भारतीय परम्परा का अग्रिम विकास है । कविता 'व्यष्टि' की सृष्टि और 'समष्टि की उपलब्धि' है । भारतीय रस शास्त्र इस धारणा का ही पुष्ट आख्यान है । सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् की अन्तिम परिणति भी यही है और इसे हम गीत की वह मुक्ति भी मानते हैं, जो नवगीत की मूल चेतना बनी है । नवगीतकार ने आत्मानुभूति को विसर्जित किये बिना ही गीत को समष्टि की अनुभूति के साथ जोड़ा है । यहाँ 'मैं' की अपेक्षा 'हम' की अभिव्यक्ति व्यष्टि-चेतना का समष्टि-चेतना से सम्पृक्त होने का प्रमाण है ।

समष्टि अथवा समूह के बाह्य स्वरूप को समझने के खतरे न सिर्फ काव्य-जगत में महसूस किये गये बल्कि व्यावहारिक जीवन में भी प्रकट हुए हैं । कविता के क्षेत्र में सपाट नारेबाजी समष्टि के ऊपरी स्वरूप की पहचान के ही कारण है । जिनके लिए मानव-जीवन की सार्थकता के मायने स्पष्ट हैं, फिर वह कलाकार हो या साधारण व्यक्ति, वहां व्यष्टि और समष्टि में कोई द्वन्द्व नहीं है, कोई मतभेद नहीं है । 'व्यष्टि' समष्टि का साधन बनकर भी महत्वपूर्ण है । वह समष्टि को गौरवान्वित करती सार्थक कड़ी है । इकाई अर्थात् व्यष्टि की उपेक्षा कर समष्टि की स्थिति निर्विघ्न या निरापद नहीं हो सकती । वस्तुतः 'समूह के पार्श्व में जिस तरह व्यक्ति-व्यक्ति प्रतिबिम्बित है, ठीक उसी तरह एक सचेत व्यक्ति में समूचा समाज अस्तित्वमान होता है और तब किसी रचनाकार का आत्म-संघर्ष सामाजिक संघर्ष की अभिव्यक्ति बनकर प्रकट होता है ।'[४३] इस कथन में 'सचेत' शब्द साभिप्राय प्रयुक्त हुआ है, अन्यथा सामाजिक चेतना से परे रचनाकार अपने रचे मन के द्वीप को ही सामूहिक भाव बनाकर प्रक्षेपित करते हैं और तब व्यष्टि और समष्टि के बीच अलगाव की खाईं या द्वन्द्व की स्थिति बनती है। इस सन्दर्भ में सुप्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक डॉ. राम मनोहर लोहिया की यह अभिधारणा अनुभूत सत्य जान पड़ती है - ''कोई द्वन्द्व दिखाई नहीं पड़ता व्यष्टि-समष्टि में । उसी तरह से पुरुष और प्रकृति में द्वन्द्व नहीं है । आमतौर से लोग द्वन्द्व देखते हैं और एक या दूसरे को अपना लेते हैं । लेकिन मैं अपनी बात कहते हुए यह चेतावनी भी देना चाहता हूँ कि ऐसे भी लोग होते हैं जो खिचड़ी पकाया करते हैं, जो दोनों का भेद नष्ट कर दिया करते हैं ।''[४४] यहां यह गौरतलब है कि इसमें व्यक्ति और समष्टि का भेद पहचानते हुए, द्वन्द्व को दृष्टिगत रखकर समाज-कल्याण के अभीष्ट की मंशा व्यक्त की गई है ।

कवि के विचारों की भाव-निधि उसकी सामाजिक चेतना की समृद्धि या विस्तार है । सामाजिक चेतना का विस्तार जनतान्त्रिक मूल्यों के लिए अनथक अनवरत संघर्ष से होता है । सामाजिक यथार्थ से संलग्न यह आत्म-संघर्ष ही काव्य में एक ऐसा सांश्लिष्ट चित्र उभारता है जहाँ निजी एकान्त-साधना की तीव्र आकांक्षा समष्टि-हित को फलीभूत देखना चाहती है । 'कविता' एकान्त क्षणों के एकाग्र मन में सघन संवेदनाओं की तीव्रता का निष्पादन तो है, किन्तु ये एकान्त क्षण कृतिकार के स्वायत्त सर्वथा निजी नहीं होते, और न ही वह यथार्थ लोक से पृथक मनः सृष्टि होता है । इस सन्दर्भ में कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, जिन्होंने कुछ अच्छे नवगीत भी लिखे हैं, अपने एक आत्मसाक्ष्य में कहते हैं - ''लिखते समय मैं अकेला नहीं होता हूँ । कोई न कोई मेरे सामने होता है - मेरा अतीत, मेरे माता-पिता, अनाथ बच्चे, मेरे परिचित गाँव के लोग । उसकी पगडंडियाँ, उसके झोंपड़े, आग-धुआं, अधनंगे बच्चे, मेरे परिचित मजदूर किसान । मेरे दोस्त, मेरे आत्मीय, उनका सुन्दर स्वभाव, आसपास खेलते छोटे बच्चे और वे तमाम लोग, तमाम दृश्य, जिनसे मैं घिरा रहता हूँ । तब कुछ, जो मेरे चारों तरफ है, मुझे स्वीकार है मेरी कविता है ।''[४५] यह जो 'चारो तरफ' है, यदि हमारी चेतना का अंग है तो वह निश्चित ही समष्टि का व्यक्ति में होनेवाला मन्थन है । यह 'मन्थन' समूह की अनुभूतिगत, व्यक्तिगत अभिव्यक्ति एवम् व्यष्टि और समष्टि का संश्लिष्ट रचना-विधान है । यह संरचना नवगीत का विशिष्ट स्वभाव है ।

आत्मपरकता और वैयक्तिकता गीत की स्वाभाविक प्रकृति मानी जाती है, इसलिए तथ्य का पूरक निष्कर्ष यह निकाल लिया जाता है कि, नवगीत में भी आन्तरिक अनुभूति ही व्यक्त की जा सकती है, बाह्य यथार्थ नहीं । वस्तुतः बाह्य या सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए 'शिल्प-संकुचन' कोई व्यवधान नहीं है बल्कि बाधा है - 'रचनाकार की सामाजिक चेतना का संकुचन' । नवगीतकार की दृष्टि में 'सामाजिक संघर्ष' और 'निजी संघर्ष' दो समानान्तर अनुभूतियाँ नहीं है । नवगीत-कवि मुकुट बिहारी 'सरोज' के शब्दों में - 'मैंने जो जिया है, केवल उसी को व्यक्त करने की चेष्टा नहीं की है, बल्कि जो जीने के संस्कार मुझे मिले, उन्हें भी अभिव्यक्ति देने का यत्न मैंने किया है ।'[४६] इस कथन से स्पष्ट होता है कि उनकी रचनाओं में सामाजिक यथार्थ, पीड़ा, वर्जना, असंतोष और विद्रोह ही नहीं, आशा, उत्कर्ष और आस्था एवं विश्वास भी व्यक्त हो पाया है जो भविष्य के प्रति आशान्वित रहने का संकेत देती है ।

'नवगीत' गीत-विधा की वैयक्तिकता, भावात्मकता, आत्माभिव्यक्ति आदि परम्परागत सीमाओं को भेदकर समष्टि अर्थात् बाह्य-संसार के यथार्थ को अन्तर्मुक्त कर सका है । यह उपलब्धि उसने, संक्षिप्तता के वैशिष्ट्य को बरकरार रखते हुए प्राप्त की है । जबकि नवगीत से इतर लम्बी-लम्बी वर्णनात्मक और कथात्मक रचनाएं, एकान्त यंत्रणा, अजनवीपन, घुटन, आत्मपीड़ा, संत्रास और उन्मुक्त यौनाचार के प्रति ललक या कि समाज की घोषित पक्षधरता व्यक्त करते हुए छद्म क्रान्ति के नारे में उलझकर रह गई है । वहाँ समय के यथार्थ एवं निजता की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति तो दूर, दोनों अतिवादों के अलग-अलग छोर दृष्टिगोचर होते हैं । नवगीत में व्यक्ति-संघर्ष की सामाजिक संघर्ष में परिणति या व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्व के अनगिनत दृश्य देखे जा सकते हैं । यथा -

"बेवजह उलझता है
यह मन भी
अनचाहे सुर्खरू गुलाबों में ।
    बिंधी हुई उंगली
    छू जाती है
    अक्सर
    भीगी
    उदास रातों में,
    सिहरन-सी
    रेंगती
    बदन-भर में
    कांटों की
    क्षुद्र वारदातों से;
चिकने-उजले सवाल
छिलते हैं
मौसम के खुरदरे जवाबों में ।"[४६]

या फिर -

"कभी-कभी कमरे की चुप्पी
बातें करती हैं !
सन्नाटा बाहर से ज्यादा
अपने मन का है,
मन में किसी फाँस-सी
चुभी हुई उलझन का है,
उलझन अपनी व्यथा-कथा
कहने से डरती है !
अपने सन्दर्भों से कटकर
जीता हुआ विषय,
समझ नहीं पाता
एकाकी जीने का आशय,
दर्पण में विद्रूप विगत की
शक्ल उभरती है !"[४८]

इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि की सापेक्ष सत्ता का यथेष्ट काव्यात्मक निर्वाह नवगीत में हुआ है जिसका एक कारण 'नवगीत की भारतीय संस्कारों से संलग्नता' भी है । इस सन्दर्भ में डॉ. राधाकृष्णन का यह कथन उल्लेखनीय है - "भारतीय मनीषा, व्यक्ति को एक ऐसे सामाजिक समूह का सदस्य समझती है, जो अपने संगठन में उन जीवन-मूल्यों को प्रतिबिम्बित करता है जिनको प्रत्यक्ष करने के लिए उस समूह का अस्तित्व है । शिक्षा और सामाजिक अनुशासन के द्वारा उस आन्तरिक आत्म-प्रत्यय को विकसित करने में मदद मिलती है जो सामाजिक स्थिरता के लिए बहुत आवश्यक है ।"[४९]

भारतीय जीवन-दृष्टि में व्यक्ति को विशिष्ट महत्ता प्रदान की गई है । उसके स्वाभिमान, आस्था, पौरुष, दृढ़ता, अदम्य शक्ति, साधना तथा नैतिकता की सराहना हुई है और उसके आदमकद व्यक्तित्व को यथोचित सम्मान दिया गया है । किन्तु वह शक्ति-सम्पन्न होकर भी समाज-निरपेक्ष नहीं है और न ही उस अर्थ में समाज से स्वतन्त्र है जिसमें उसका कोई सामाजिक वास्ता या दायित्व न हो । वस्तुतः कथ्यों में गीतकार अधिकांशतः अपनी अन्तर्मुखी संवेदनाओं को व्यक्त करता रहा है जबकि समष्टिगत कथ्योद्घाटन में वर्ण्य वाह्य परिवेश को ही स्पर्श कर सका है । इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि व्यष्टिपरक संवेदनाएं आत्मस्थ उद्वेगों को प्रकाशित करती रही हैं जिनमें व्यक्तिगत हर्ष भी है, संत्रास भी, और बहुत कुछ ऐसा है जो गीतकार की वैयक्तिक अन्तर्वेदना से संपृक्त है । यथा -

"मैंने ज़िन्दगी को
किसी पेड़ की तरह जिया ।...
कहीं हरी पत्तियाँ थीं, कहीं तेज कांटे,
कभी तो मैं हँसता, कभी बुनता सन्नाटे,

लेकिन हर मौसम में फूला-फला खूब
बाँटता रहा खुद को, जगी नहीं ऊब,
मैं वनपाँखी की
मधुर टेर की तरह जिया ।"[५०]

नवगीत में अधिकांशतः उत्तमपुरुष में एकवचन के स्थान पर बहुवचनीय संज्ञाओं का प्रयोग आत्मपर कथ्यों को भी बाह्य परिवेश से संयुक्त करती है जिसके कारण व्यक्तिगत संवेदनाएं समष्टिगत संवेदनाओं में परिवर्तित हुई-सी प्रतीत होती हैं । अर्थात् 'मैं' के स्थान पर 'हम' का प्रयोग करते हुए गीतों में जब अन्तर्मुखी संवेदनाएं व्यक्त हुई हैं, तो वे नितान्त व्यक्तिपरक होते हुए भी एक तरह से सामाजिक सरोकार से जुड़ जाती हैं । इस प्रकार ऐसी स्थिति में व्यक्ति और समाज की संवेदना में किसी तरह का वैषम्य नहीं रह जाता, अर्थात् व्यष्टि, समष्टि की संवेदनाओं का साधन अथवा माध्यम बनकर उपस्थित हो जाता है -

"आदमी थे हम कभी
अब पत्थरों के बुत हुए ।
जेठ की वहशी हवा
कोड़े लगाती है,
देह में जलती हुई
कीलें चुभाती है,
पर न हिलते-डोलते हम
ज्यों पड़े मूर्छित हुए ।"[५१]

या फिर -

"हम नदी की धार में
बहते सिवारों-से हुए
वक्त की तीखी छुरी ने
काट दी अपनी जड़ें,
अस्मिता का यह समर
हम भला कैसे लड़ें,
तेज आँधी में घिरे
जर्जर चिनारों से हुए ।"[५२]

नवगीत में अभिव्यक्त उपर्युक्त कथ्य व्यक्तिपरक होते हुए भी अपनी सामुहिकता को विज्ञापित करते हैं, किन्तु यही बात जब प्रथम पुरुष - एक वचन में स्वीकार की जाती है, तब वह नितान्त व्यक्तिगत और अन्तस्थ संवेदना ने जुड़ जाती है । जैसे -

"मैं जब भी घर से निकला हूँ, मेरे संग-साथ चलीं नदियाँ ।
जब-जब भी प्यास लगी, सूखे
ये होंठ, विकल मन मुरझाया,

जब-जब भी अपने को टूटा
असहाय विवश आहत पाया
तब-तब मुझको अपनी गोदी में लेने को मचलीं नदियाँ ।
जब-जब भी मन बेचैन हुआ
या जोर-जुलुम से जी ऊबा,
कीचड़ में खूब हुआ लथ-पथ
गर्दन तक दलदल में डूबा ।
मेरे दायें-बायें आकर हो गयीं खड़ीं उजली नदियाँ ।''[५३]

कहीं-कहीं ये आत्मस्थ स्वीकृतियाँ भी सार्वजनिक होतीं प्रतीत होती हैं -

''कोई यहाँ पूछने आये तो कह देना,
मैंने जाने कब का यह घर छोड़ दिया है ।
इस घर में चलता रहता था
दिवस-रैन का जादू टोना,
कानाफूसी के आलम में
सोना-जगना, हँसना-रोना,
अब मैं चौहद्दी से बाहर
उस वीराने में रहता हूँ -
कोई भेद जानने आये तो बतलाना,
मैंने सम्बन्धों का धागा तोड़ दिया है ।''[५४]

इसी प्रकार जब कोई कथ्य मूल रूप से समष्टिगत होते हुए भी कवि की अन्तस्थ चेतना में अंकुरित होता है और वह उसे सामाजिक परिवेश में सार्वजनिक स्वीकृति के लिए व्यक्त करता है तब व्यक्ति का नितान्त वैयक्तिक आत्मद्वन्द्व अपनी स्वाभाविक सार्वजनीयता को घोषित कर देता है । ऐसे कथ्य घटनाओं एवम् परिस्थितियों को व्यक्त करते हुए बाह्य परिवेश की जटिलताओं और अस्वीकृतियों को भी अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं -

''इस अँधेरे-गीधवन के
बरगदों पर,
ऐ बया ! तू क्यों बनाती घौंसला ?
खिलखिलाते हँस रहे
वे राज-उपवन
फूल सूरजमुखी वन्दन कर रहे हैं ।
आम्रवन के वृक्ष
झुक झूमें कि जैसे
भाट-चारण भृत्य नर्तन कर रहे हैं ।

नकचढ़ी शीतल हवा
निर्वस्त्र करती घूँमती हैं ।
तू वहाँ जा, बढ़ा मन का हौंसला ।"[५५]

ऐसी ही अभिव्यक्ति निम्न नवगीत-पंक्तियों में भी हुई है -

"यह पहर फिर
निर्झरों में खिलखिलाए
गा रहीं हैं घाटियाँ
सुनसान गाए
कौन-सा है राग,
शायद भैरवी है
ये सुबह की
गूँजती-सी पैरवी है,
खुशबुओं में याद कोई
छटपटाए ।"[५६]

उपर्युक्त दोनों कथ्यों में व्यष्टि और समष्टि का अन्तराल सहज ही परखा जा सकता है, किन्तु कथ्य में निहित आम आदमी की संवेदना का सरोकार दोनों ही कथ्यों में समान रूप से विद्यमान है । एक जगह शोषित और संत्रस्त आम-जन व्यवस्था की विभीषिकाओं से अन्जान होकर स्वयं की अस्मिता को आरोपित करने का दुस्साहस कर रहा है, जहाँ उसके विनाश की निर्धारित शर्तें पहले से ही विद्यमान हैं, तो दूसरी जगह नैराश्य और टूटन के बीच थका हुआ छटपटाता आदमी व्यवस्था या न्याय से कुछ-न-कुछ सम्बल प्राप्त करने को उत्साहित जान पड़ता है । जीने के लिए दुःसाहसी अभियान दोनों ही कथ्यों में हैं । परिस्थितियों की विषमताएं और व्यवस्था का अत्याचारी आक्रोश और उसके तहत दमित-शोषित आदमी की पीड़ित अनुभूतियाँ दोनों ही स्थानों पर व्यक्त हैं, किन्तु पहले गीतांश में सार्वजनीय दुस्साहसिक प्रयत्नों को रेखांकित किया गया है और दूसरे में व्यक्तिगत दुस्साहसिक अभियान को उद्वेलित किया गया है । पहला गीत समष्टिगत निषेधों के बावजूद एक अथक कोशिश को सामने लाती है, तो दूसरी कविता में घबरायी हुई मनःस्थिति से आशा की किरन तराशता हुआ आदमी अपने वैयक्तिक उत्साह को मिटने से बचाने के लिए प्रयत्नशील है । इस तरह नवगीत-विधा में व्यष्टिपरक और समष्टिपरक द्वन्द्व, अन्तश्चेतना एवम् वाह्य संघर्ष दोनों को ही संवेदना के स्तर पर व्याख्यायित करते हैं ।

नवगीत का प्रारम्भ कभी से भी हुआ हो, इसमें मानवीय संवेदनाओं के स्तर पर हर्ष और विषाद् की बातें सार्वजनिक रूप से सर्वत्र व्यक्त हुई हैं । महाकवि निराला से लेकर सोम ठाकुर, बद्रीनाथ मिश्र, सत्यनारायण और यश मालवीय तक इन आत्म-संघर्षी चेतनाओं का प्रकाशन व्यष्टिपरक और समष्टिपरक दोनों ही रूपों में विभिन्न विषयों और अनुभूतियों के आधार पर देखा व समझा गया है ।

संक्षिप्ततः नवगीतकार अनुभूति-शून्य गद्य के काव्यादर्श को स्वीकार नहीं करता और न ही वह समाज-निरपेक्ष आत्मीय अनुभवों को साहित्य का लक्ष्य मानता है । अनुभव के बीच से गुज़रकर तथा उसको मात्र अपने से सम्बद्ध न रखकर समष्टि के अनुभव के समानान्तर रखना ही नवगीत की वैयक्तिक अभिव्यक्ति है - यही उसकी वस्तुपरक आत्माभिव्यक्ति है । अतः नवगीत में 'मैं' की अपेक्षा 'हम' की अभिव्यक्ति, व्यष्टि-चेतना का समष्टि चेतना से सम्पृक्त होने का प्रमाण है ।

संदर्भ सूची :-

१. ओम प्रभाकर : नवगीत दशक-२, पृष्ठ ६५
२. कुमार शिव : नवगीत दशक-२, पृष्ठ २५
३. उमा शंकर तिवारी : वही, पृष्ठ ७१
४. वही, पृष्ठ ७२
५. कुमार रवीन्द्र : नवगीत दशक-२, पृष्ठ ८६
६. डॉ. शम्भुनाथ सिंह : जहां दर्द नीला है, पृष्ठ ११७
७. जगदीश श्रीवास्तव : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १०८
८. किसन सरोज : नये-पुराने, सितम्बर-१९९८, पृष्ठ ८५
९. किसम सरोज : भव्य भारती (१९९७), पृष्ठ ४
१०. नवगीत अर्द्धशती : पृष्ठ १०२
११. वही, पृष्ठ १०४
१२. कुँअर बेचैन : मधुमती-जुलाई-१९९८, पृष्ठ ७०
१३. रामेश्वर दास वैष्णव : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २२१
१४. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २२७
१५. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २७३
१६. जगदीश श्रीवास्तव : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १०९
१७. सूर्यभानु गुप्त : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २९३
१८. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २७८
१९. ओम प्रभाकर : नवगीत दशक-२, पृष्ठ ६७
२०. डॉ. विनोद निगम : भव्य भारती-नवगीत-शिखर (१९९९), पृष्ठ ३२
२१. माहेश्वर तिवारी : नवगीत दशक-२, १२२
२२. वही, पृष्ठ १२७
२३. विद्यानन्दन राजीव : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २२८
२४. नवगीत अर्द्धशती : पृष्ठ २०२
२५. भव्य भारती : नवगीत शिखर (अंक १९९९), पृष्ठ ३९
२६. वही, पृष्ठ ३९
२७. नये-पुराने, गीत अंक-४ (१९९९), पृष्ठ १०८
२८. भव्य भारती : नवगीत शिखर (अंक १९९९), पृष्ठ २७
२९. नये-पुराने, गीत अंक ४ (१९९१), पृष्ठ ११३
३०. राजेन्द्र गौतम : नवगीत दशक-३, पृष्ठ ३१

३१. मधुमती, मई १९९९, पृष्ठ ५२

३२. नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १३१

३३. डॉ. इशाक 'अश्क' : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ५५

३४. ओम निश्चल : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ६६

३५. राजकुमारी 'रश्मि' : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २००

३६. श्याम निर्मम : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २५०

३७. उद्भ्रान्त : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ५७

३८. डॉ. विष्णु विराट : सार्थक (सं. मधुकर गौड़), अक्टूबर १९९९, पृष्ठ २१

३९. डा. उमा शंकर तिवारी : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ ६३

४०. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १२४

४१. नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ ८२

४२. नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २३६

४३. डा. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत-संवेदना और शिल्प

४४. समाजवाद की राजनीति, पृष्ठ ५

४५. साहित्य का परिवेश, पृष्ठ ८४

४६. किनारे के पेड़ : पूर्वाभाष

४७. योगेन्द्र दत्त शर्मा : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १८८

४८. जहीर कुरेशी : नवगीत दशक-२, पृष्ठ ९२

४९. प्राच्य धर्म और पाश्चात्य दर्शन, पृष्ठ ४१८

५०. रवीन्द्र भ्रमर : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १७८

५१. अखिलेश कुमार सिंह : नवगीत दशक-३, पृष्ठ २५

५२. वही, पृष्ठ २३

५३. श्याम सुन्दर घोष : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ २५२

५४. रवीन्द्र भ्रमर : नये-पुराने, सितम्बर १९९८, पृष्ठ १७७

५५. डॉ. विष्णु विराट : भव्य भारती - नवगीत शिखर (अंक १९९९), पृष्ठ ४१

५६. यश मालवीय : मधुमती-जुलाई १९९८, पृष्ठ ७०